जैन आगमों की प्राचीनता

● डॉ. पदमचन्द मुणोत

जैन आगमों की रचना के संबंध में अनेकविध प्रश्न उठते हैं। इनके रचयिता कौन थे? रचना कब हुई? क्या ये अनादि अनन्त हैं? इन प्रश्नों के संबंध में गणितशास्त्र के सेवानिवृत्त आचार्य डॉ. पदमचन्द जी मुणोत ने जैनदर्शन मान्य कालचक्र का निरूपण करते हुए तीर्थंकरों की मूल वाणी को आधार बनाकर सूत्रबद्ध शास्त्र को आगम कहा है। यह अर्थ रूप में शाश्वत एवं शब्दरूप में नवीन होते हैं। वर्तमान में तीर्थंकर भगवान महावीर की वाणी को आधार मानकर ग्रथित सूत्र 'आगम' की संज्ञा प्राप्त है। आलेख की सामग्री अपने आप में जिज्ञासु पाठकों के लिये मार्गदर्शक है। **—सम्पादक**

जैन धर्म-दर्शन व संस्कृति का मूल आधार वीतराग-सर्वज्ञ तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित जैन वाङ्मय है। जैन वाङ्मय से तात्पर्य समस्त सुत्तागम, अत्थागम एवं तदुभयागम रूप शास्त्रों से है। सर्वज्ञ अर्थात् सम्पूर्ण रूप से आत्म दर्शन करने वाले ही विश्व दर्शन कर सकते हैं। जो समग्र को जानते हैं वे ही तत्त्वज्ञान का यथार्थ निरूपण कर सकते हैं, परम हितकर निःश्रेयस का यथार्थ उपदेश कर सकते हैं। उनकी वाणी में वीतरागता के कारण दोष की किंचित् मात्र भी संभावना नहीं रहती और न उसमें पूर्वापर विरोध या युक्तिबाध ही होता है।

जब तीर्थंकर भगवान को केवलज्ञान होता है अर्थात् वे सर्वज्ञ, अनन्तज्ञान के धारक हो जाते हैं, तब तीर्थंकर लब्धि के कारण वे साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चार तीर्थ की स्थापना करते हैं। इन तीर्थों की स्थापना तभी होती है जब इन्द्रों एवं देवों द्वारा रचित समवसरण में करुणासागर तीर्थंकर प्रभु जग-कल्याणार्थ भवभयभंजन उपदेश की सरिता बहाते हैं। उस समय उनके वचनामृत का पान करके अनेक भव्य प्राणी इन चार तीर्थों में स्थित हो जाते हैं। प्रभु अपने उपदेश में दो प्रकार का धर्म बतलाते हैं— एक अनगार धर्म व दूसरा आगार धर्म। अनगार धर्म स्वीकारने वाले पुरुष साधु कहलाते हैं और स्त्री साध्वी कहलाती हैं। इसी प्रकार अणुव्रत स्वीकार करने वाले पुरुष श्रावक एवं स्त्री श्राविका कहलाती है। इस प्रकार चार तीर्थ की स्थापना होती है। उनमें से कुछ पण्डित अपने गण (शिष्य समुदाय) को साथ लेकर दीक्षित होते हैं वे गणधर कहलाते हैं। उनमें पूर्वभव के संस्कार से गणधर लब्धि प्रकट होती है।

कहते हैं—

अत्थं भासइ अरहा।
सुत्तं गंथंति गणहरा णिउणं।।— अनुयोगद्वार

प्रभु द्वारा प्रस्फुटित वाणी अर्थागम है जो मुक्त सुमनों की वृष्टि के समान होती है। महान् प्रज्ञावान गणधर उसे सूत्र रूप से गूंथकर व्यवस्थित आगम का रूप देते हैं, जो सूत्रागम कहलाते हैं। गणधरों के प्रथम शिष्य की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रचनाएँ 'अनन्तरागम' और उनके शिष्य परम्परा में आगे की पीढ़ी के स्थविरों की रचनाएँ 'परम्परागम' कही जाती हैं। ये ही तदुभयागम हैं, ये सभी प्रभु सर्वज्ञ की वाणी का उपयोग करके ही रचित होती हैं। ये ही आगम शास्त्र कहलाते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आगम उतने ही प्राचीन हैं जितने प्राचीन तीर्थंकर हैं। तीर्थंकर अनादिकाल से होते आये हैं और आगे अनन्तकाल तक होते रहेंगे। अतः आगम भी अनादि प्रवाहयुक्त है अर्थात् अनादि काल से विद्यमान हैं और भविष्य में अनन्तकाल तक विद्यमान रहेंगे। तीर्थंकर परम्परा की शाश्वतता के साथ आगम की शाश्वतता स्वयं सिद्ध होती है।

तीर्थंकर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र व अनन्त बलवीर्य के धारक होते हैं। उनके मुख से जो अर्थागम वाणी जन-कल्याणार्थ निकलती है वह अत्यन्त सरल एवं अर्धमागधी भाषा में ही होती है। उनके अतिशय के कारण जो भी उसको सुनता है उसको लगता है कि वह उसकी भाषा में ही कही गई है और वह उसके हृदय को स्पर्श करती है। वह उसे पूर्ण रूप से समझ जाता है। स्पष्ट है कि सीमित समय में जो प्रभु भाषते हैं, वह सार रूप ही होता है। तीर्थंकर भगवान केवल अर्थ रूप में ही उपदेश देते हैं और गणधर उसे सूत्रबद्ध अथवा ग्रन्थबद्ध करते हैं। अर्थात्मक ग्रन्थ के प्रणेता तीर्थंकर हैं। आचार्य देववाचक ने इसीलिये आगमों को तीर्थंकर-प्रणीत कहा है। प्रबुद्ध पाठकों को यह स्मरण रखना होगा कि आगमसाहित्य की जो प्रामाणिकता है उसका मूल कारण गणधर कृत होने से नहीं, किन्तु उसके अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर की वीतरागता और सर्वज्ञता के कारण है। गणधर केवल द्वादशांगी की रचना करते हैं, किन्तु अंगबाह्य आगमों की रचना स्थविर करते हैं। यह सभी ज्ञान गुरु-शिष्य परम्परा से उनके शासन में सदैव विद्यमान रहता है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जो आगम-ज्ञाननिधि गुरु द्वारा शिष्य को उपदेश रूप में प्राप्त होती है वही आत्मा का कल्याण करने वाली होती है। शिष्य उसे स्मृति में रखने का प्रयत्न करता है।

तीर्थंकर किन क्षेत्रों में और किस काल में होते हैं, यहाँ पर इन बातों पर कुछ विचार करते हैं। चौदह राजु लोक में तिरछा लोक के १०१ क्षेत्रों में मनुष्य का होना माना जाता है। ये क्षेत्र हैं— पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच महाविदेह कुल १५ कर्मभूमियाँ, ३० अकर्म भूमियाँ और ५६ अन्तर्द्वीप हैं। इनमें से १५ कर्मभूमियों में ही तीर्थंकर होते हैं। शेष ३० अकर्मभूमियों एवं ५६ अन्तर्द्वीपों में तीर्थंकर नहीं होते। सभी भरत एवं सभी ऐरावत क्षेत्र काल चक्र के आधीन हैं। कालचक्र निरन्तर घूमता रहता है। इसके दो भाग हैं—एक अवसर्पिणी काल और दूसरा उत्सर्पिणी काल, जो एक के बाद एक निरन्तर आते रहते हैं। जैसे कि अपने भरत क्षेत्र में वर्तमान में अवसर्पिणी काल चल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहा है जिसमें पुद्गलों की शक्ति निरन्तर घटती जाती है। मानव देह, जो अजीव पुद्गलों से निर्मित है, की अवगाहना, उम्र, शारीरिक बल, स्मरण शक्ति आदि सब, ज्यों ज्यों यह काल बढ़ता है, घटते जाते हैं। अवसर्पिणी काल के बीत जाने के बाद तथा उसके पूर्व भी उत्सर्पिणी काल होता है, जिसमें अजीव पुद्गलों की शक्ति जैसे जीवों की अवगाहना, आयुष्य आदि सब बढ़ते जाते हैं। एक अवसर्पिणी काल और एक उत्सर्पिणी काल मिल कर एक कालचक्र बनता है, जिसका पूर्ण काल २० कोटाकोटि सागरोपम है, क्योंकि प्रत्येक अवसर्पिणी और प्रत्येक उत्सर्पिणी १०--१० कोटाकोटि सागरोपम के होते हैं। प्रत्येक अवसर्पिणी और प्रत्येक उत्सर्पिणी ६ आरों में विभक्त होते हैं। इनके नाम एवं प्रत्येक काल का विवरण निम्न सूचि में दर्शाया गया है।

अवसर्पिणी काल

प्रथम आरा	सुषम--सुषम	४ कोटाकोटि सागरोपम
दूसरा आरा	सुषम	३ कोटाकोटि सागरोपम
तीसरा आरा	सुषम--दुषम	२ कोटाकोटि सागरोपम
चौथा आरा	दुषम--सुषम	१ कोटाकोटि सागरोपम में ४२हजार वर्ष कम
पाँचवा आरा	दुषम	२१ हजार वर्ष
छठा आरा	दुषम--दुषम	२१ हजार वर्ष
	कुल	१० कोटाकोटि सागरोपम

अवसर्पिणी काल में सभी भरत एवं सभी ऐरावत क्षेत्रों में समस्त २४ तीर्थंकर चौथे आरे 'दुषम--सुषम' में ही होते हैं। इस समय दुःख अधिक और सुख कम होता है।

उत्सर्पिणी काल

प्रथम आरा	दुषम--दुषम	२१ हजार वर्ष
दूसरा आरा	दुषम	२१ हजार वर्ष
तीसरा आरा	दुषम--सुषम	१ कोटाकोटि सागरोपम में ४२हजार वर्ष कम
चौथा आरा	सुषम--दुषम	२ कोटाकोटि सागरोपम
पाँचवा आरा	सुषम	३ कोटाकोटि सागरोपम
छठा आरा	सुषम--सुषम	४ कोटाकोटि सागरोपम
	कुल	१० कोटाकोटि सागरोपम

उत्सर्पिणी काल में भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों में सभी तीर्थंकर ''दुषम--सुषम'' नाम के तीसरे आरे में ही होते हैं। सभी कर्मों का तप आदि द्वारा क्षय करने का यही श्रेष्ठ समय होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाविदेह क्षेत्र में तो काल सदैव एक समान ''दुषम–सुषम' आरे जैसा ही बना रहता है, अतः वहाँ तीर्थंकर सदैव विद्यमान रहते हैं, उनका कभी विच्छेद नहीं होता। अतः वहाँ आगम निरन्तर विद्यमान रहते हैं। भरत व ऐरावत में ऐसा नहीं है। यहाँ अवसर्पिणीकाल के अन्तिम तीर्थंकर (आगमकार) एवं आगे आने वाले उत्सर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर के मध्य कम से कम ८४ हजार वर्ष का अन्तराल रहता है जबकि उत्सर्पिणी काल के अन्तिम आगम प्रणेता एवं उससे अगले आने वाले अवसर्पिणी काल के प्रथम आगम प्रणेता (तीर्थंकर) के बीच १८ कोटाकोटि सागरोपम का अन्तराल हो जाता है।

स्पष्ट है कि महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा से आगम बिना किसी अन्तराल के अव्याबाध, निरन्तर, शाश्वत अनादि अनन्त है।

आचार्य मलयगिरि के अभिमतानुसार गणधर तीर्थंकर के सन्मुख यह जिज्ञासा व्यक्त करते हैं कि तत्त्व क्या है? तब उत्तर में उनकी जिज्ञासा निवारणार्थ तीर्थंकर ''उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा धुवेइ वा'' इस त्रिपदी का प्रवचन करते हैं। त्रिपदी के आधार पर ही गणधर को १४ पूर्वो का ज्ञान उनके पूर्वभव के संस्कार एवं गणधर लब्धि के कारण तुरन्त हो जाता है। इन पूर्वों के ज्ञान से ही प्रभु की अर्थरूप वाणी को वे सूत्रबद्ध कर जिन आगमों की रचना करते हैं, जो अंग प्रविष्ट के रूप में विश्रुत होते हैं। अंग प्रविष्ट आगम गणधर कृत हैं।

श्रुत आगम के दो भेद हैं १. अंग प्रविष्ट और २. अंग बाह्य। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि अंग प्रविष्ट श्रुत वह है जो गणधरों द्वारा सूत्र रूप में बनाया गया हो, गणधरों के द्वारा जिज्ञासा प्रस्तुत करने पर तीर्थंकर के द्वारा समाधान किया हुआ हो। अंग बाह्य श्रुत वह है जो स्थविर कृत हो।

गणधर थेरकयं वा आएसा मुक्क वागरणाओ वा।
धुव चल विसेसओ वा अंगाणंगेसु नाणत्तं।।–विशेषावश्यक भाष्य, गाथा 252

स्थविर के चतुर्दशपूर्वी और दशपूर्वी ये दो भेद किये हैं, वे सूत्र एवं अर्थ की दृष्टि से अंग-साहित्य के पूर्ण ज्ञाता होते हैं। वे जो कुछ भी रचना करते हैं या कहते हैं उसमें किंचित् मात्र भी विरोध नहीं होता।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में यह मान्यता है कि गणधरकृत अंगप्रविष्ट साहित्य में द्वादशांगी का निरूपण किया गया है जिनके नाम हैं–

१. आचारांग २. सूत्रकृतांग ३. स्थानांग ४. समवायांग ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) ६. ज्ञाताधर्मकथा ७. उपासकदशा ८. अन्तकृत्दशा ९. अनुत्तरौपपातिक दशा १०. प्रश्नव्याकरण ११. विपाक सूत्र १२. दृष्टिवाद।

दिगम्बर परम्परा की दृष्टि से अंग-साहित्य विच्छिन्न हो चुका है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवल दृष्टिवाद का कुछ अंश अवशेष है जो षट्खण्डागम के रूप में आज भी विद्यमान है। परन्तु श्वेताम्बर परम्परा की दृष्टि से केवल १४ पूर्वों का ज्ञान विच्छिन्न हुआ है जो दृष्टिवाद का एक विभाग था। पूर्व साहित्य से निर्यूढ़ आगम आज भी विद्यमान हैं, जैसे—आचार चूला, दशवैकालिक, निशीथ, दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प, व्यवहार, उत्तराध्ययन का परीषह अध्ययन आदि।

वर्तमान आगम सुधर्मा स्वामी की देन हैं। आगम ज्ञान तो बहुत विस्तृत था जो गुरु-शिष्य परम्परा से विचक्षण स्मृति के कारण चला आ रहा था। आगम विच्छिन्न होने के मूल कारण भगवान महावीर के पश्चात् होने वाले दुष्काल, स्मृति दुर्बलता, पात्रता का अभाव, गुरुपरम्परा का विच्छेद आदि हैं। कल्पसूत्र में वर्णन आता है कि वीर निर्वाण की दसवीं शताब्दी में इनको लिखकर स्थायी किया गया।

वर्तमान शास्त्र भगवान महावीर के निर्वाण के ९८० वर्ष बाद लिखित रूप में लाये गये, इससे यह कदापि न समझा जाय कि आगम १५४७ वर्ष पुराने ही हैं? कल्पसूत्र में स्पष्ट उल्लेख है कि देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने एक दिन औषध रूप सूंठ का गांठिया बहरा था। उसमें से उपयोग में लेने के बाद जो अंश बच गया उसे या तो परठना था या फिर कल्पानुसार श्रावकजी को लौटाना था। उस दिन वे उसको अपने कान में अटका कर भूल गये। सांयकालीन प्रतिक्रमण के समय जब हाथ किसी कारणवश कान पर गया तो वह सूंठ का टुकड़ा सामने आ गिरा, तब उनके दिमाग में यह विचार कोंधा कि अब उनकी स्मृति में भूल पड़ने लगी है। अतः आगम ज्ञान जो उनको उनके गुरु से प्राप्त है, स्मृति दुर्बलता से उसमें भी भूल आ सकती है। प्रभु वाणी में स्पष्ट बताया गया है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता जायेगा इस पांचवे आरे 'दुषम' में मानवों की स्मरणशक्ति कम होती जायेगी। अतः आगे आने वाली पीढ़ियों में आगम ज्ञान स्मरणशक्ति के बल पर सुरक्षित नहीं रह पायेगा। उस समय के श्रमणों का सम्मेलन बुला कर यह निर्णय लिया गया कि आगमज्ञान को जिसकी लेखनी सुन्दर हो उससे लिखवा कर लिखित रूप में सुरक्षित कर रखा जाय। इसी कारण वीर निर्वाण के ९८० वर्ष बाद आगम लिखे गये जो कि पूर्व में तो साधु समुदाय के मस्तिष्क में ही सुरक्षित रहते थे। अयोग्य तो उसको अर्जित करने का सोच भी नहीं सकते थे। अब तो जिसके भी ये लिखित शास्त्र हाथ पड़ जावें वहीं उसको पढ़ सकता था। यदि सुबुद्धि न हो तो कुबुद्धि से इनका दुरुपयोग भी किया जा सकता था।

आगम के लौकिक और लोकोत्तर ये दो भेद किये हैं। उसमें रामायण, महाभारत प्रभृति ग्रंथों को लौकिक आगम में गिना है। जबकि अङ्गोपांग, पयन्नादि प्रभृति आगमों को लोकोत्तर आगम कहा गया है:

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य मलयगिरि का अभिमत है कि जिससे पदार्थों की परिपूर्णता के साथ मर्यादित ज्ञान हो वह 'आगम' है। अन्य आचार्यों का अभिमत है, जिससे पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो वह 'आगम' है।

ज्ञान का लोप किस प्रकार हुआ इसकी एक ऐतिहासिक घटना इस प्रकार वर्णित है। इतिहास में आचार्य भद्रबाहु व शिष्य स्थूलिभद्र का उल्लेख आता है। भद्रबाहु स्वामी नेपाल में महाप्राण ध्यान की साधना में रत थे। वे चौदह पूर्वधारी थे। उस समय और किसी के पास १४ पूर्वों का ज्ञान नहीं था। उनके देवलोक होने के साथ ही यह पूरा ज्ञान लोप हो जाता, अतः स्थूलिभद्र जो एक विशिष्ट साधक थे, को इस योग्य समझा गया कि वे भद्रबाहु से १४ पूर्वों का ज्ञान अर्जित कर सकते हैं। यह ज्ञान समय रहते भद्रबाहु स्वामी से ग्रहण करने के लिए चतुर्विध संघ ने स्थूलिभद्र को भद्रबाहु के पास भेजा। आचार्य भद्रबाहु ने संघ की आज्ञा को शिरोधार्य कर स्थूलिभद्र को पूर्वों का ज्ञान सिखाना आरम्भ किया। जब वे दशपूर्व का ज्ञान सीख चुके थे, उस समय वे जीर्ण-शीर्ण खण्डहर में रह कर ज्ञानाभ्यास करते थे। संयोग से स्थूलिभद्र की सात सांसारिक बहनें जो साध्वियाँ थी, उनके दर्शन करने के लिए हिमालय की कन्दराओं में आई, तब भटक कर भद्रबाहुस्वामी के पास पहुँच गई। उन्होंने वहां से स्थूलिभद्र की ध्यान—स्थली जो काफी नीचे थी, बतलाई। वे उस खण्डहर की ओर रवाना हुई तो अर्जित ज्ञान से स्थूलिभद्र ने यह जान लिया कि उनकी भगिनी साध्वियाँ उनके दर्शनार्थ उनकी ओर आ रही हैं। अपने ज्ञान का प्रदर्शन अपनी बहनों के सामने करने के भाव से उन्होंने अपना रूप सिंह का बनाकर खण्डहर के द्वार पर बैठ गये। जब वे साध्वियाँ वहां पहुंची तो सिंह को देखकर वे घबरा गई और भद्रबाहु के पास वापस आकर उलाहना दिया कि उन्होंने उन्हें सिंह की गुफा में भेज दिया। यह सुनकर भद्रबाहु स्वामी ने जान लिया कि स्थूलिभद्र ने ही यह नाटक किया है और समझ गये कि स्थूलिभद्र में ज्ञान के अनुरूप गम्भीरता नहीं है, उनका मन चंचल है, प्रदर्शन का कौतुहल है, ज्ञान को पचा नहीं पाये हैं। पूर्वों का ज्ञान पचाने में अक्षमता देखकर उन्होंने आगे की देशना स्थूलिभद्र को देना बन्द कर दिया। स्थूलिभद्र को अपनी गलती का एहसास हुआ। उनको बहुत पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने इसके लिये क्षमायाचना की और आगे की देशना के लिये प्रार्थना की। परन्तु वे इसके लिये बिल्कुल राजी नहीं हुए और इस प्रकार १४ पूर्वों में से अन्तिम चार पूर्वों का ज्ञान भद्रबाहु स्वामी के साथ ही लुप्त हो गया। पात्रता के अभाव में १० पूर्वों का ज्ञान भी स्थूलिभद्र के आगे अधिक नहीं चला। वर्तमान में तो एक पूर्व का ज्ञान भी नहीं है। वर्तमान में ज्ञान बहुत अल्प रह गया है।

—ई-14, शास्त्री नगर, जोधपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org